न्यायिक पुनरावलोकन एवं न्यायिक सक्रियता
(Judicial Review and Judicial Activism)

न्यायिक पुनरावलोकन का तात्पर्य एक ऐसी संस्थात्मक व्यवस्था से है, जिसमें न्यायालय के द्वारा विधायिका और कार्यपालिका के किए गए कार्यों की संवैधानिकता का परीक्षण किया जाता है। भारतीय संविधान में शासन के प्रत्येक अंगों पर निश्चित प्रतिबंध आरोपित हैं। उदाहरण के लिए, अनुच्छेद-13(2) में यह स्पष्ट प्रावधान है कि राज्य किसी भी ऐसी विधि का निर्माण नहीं कर सकता, जो मूल अधिकारों को कम करते या छीनते हों। परिणामस्वरूप न्यायपालिका ने सरकार के अनेक विधियों और अध्यादेशों को अवैध घोषित कर दिया। भारतीय संविधान की संघीय व्यवस्था में संघ और राज्यों के मध्य शक्तियों का विभाजन है और इस शक्ति विभाजन के उल्लंघन को रोकने के लिए न्यायिक पुनरावलोकन का प्रबंध किया गया है।

न्यायिक पुनरावलोकन का आधार

कुछ लोगों के मान्यतानुसार, भारतीय संविधान में न्यायिक पुनरावलोकन का कोई सुनिश्चित आधार वर्णित नहीं है। एक लिखित संविधान के अंतर्गत् जहां सरकार के प्रत्येक अंगों पर निश्चित प्रतिबंध हों, न्यायिक पुनरावलोकन अपरिहार्य हो जाता है। लेकिन दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार, भारतीय संविधान में न्यायिक पुनरावलोकन की स्पष्ट व्यवस्था है। अमेरिका की भांति यह न्यायपालिका द्वारा निर्मित नहीं है। अनुच्छेद-13(2) में न्यायिक पुनरावलोकन का स्पष्ट आधार है। उदाहरण के लिए, वर्ष-2005 में न्यायपालिका ने **पाई फॉउण्डेशन वाद** में अल्पसंख्यकों के शैक्षिक और सांस्कृतिक अधिकारों के संदर्भ में निर्णय दिया। जिसके अनुसार उच्चतम न्यायालय ने अल्पसंख्यकों के विशिष्ट अधिकारों को संवैधानिक माना।

संसदीय विशेषाधिकार एवं प्रक्रियाओं का न्यायिक पुनरावलोकन

भारतीय संविधान में और परंपराओं के द्वारा भी सांसदों और संसद को विशेषाधिकार प्राप्त हैं। विशेषाधिकार का अभिप्राय, उन विशिष्ट अधिकारों से है, जो सामान्यत: आम नागरिकों को प्राप्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए, अनुच्छेद-105 के अंतर्गत् सांसदों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का असीमित विशेषाधिकार है। अत: सामान्य व्यक्तियों पर वाक् और अभिव्यक्ति पर लगने वाला प्रतिबंध सांसदों पर लागू नहीं होते। विशेषाधिकार में यह भी सम्मिलित है कि संसद किसी भी व्यक्ति को सदन से निष्कासित तथा किसी भी मुद्दे को सदन की प्रक्रिया से निकाल सकती है। व्यक्ति के मूल अधिकारों और संसदीय विशेषाधिकारों के बीच संघर्ष उत्पन्न होने पर न्यायपालिका के द्वारा विवाद का समाधान किया गया। यह उल्लेखनीय बिन्दु है कि आज भी सांसदों के विशेषाधिकार का पूर्ण निर्धारण (संहिताकरण) नहीं हुआ है। अत: विशेषाधिकार को निर्धारित करने की शक्ति स्वयं संसद के पास ही है। सर्चलाइट वाद में न्यायपालिका ने स्पष्ट रूप में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की तुलना में संसदीय विशेषाधिकारों को प्राथमिकता दी। तकनीकी रूप में अनुच्छेद-19(A) की तुलना में अनुच्छेद-105 और 194 ज्यादा महत्वपूर्ण हैं।

केशव सिंह वाद के ऐतिहासिक मामले में उच्चतम न्यायालय ने अपनी सलाहकारी अधिकारिता के अंतर्गत् निर्णय दिया। जिसके अनुसार संसदीय विशेषाधिकारों के नाम पर जीवन का अधिकार, अपराधों के संबंध में संरक्षण का अधिकार और मनमानी गिरफ्तारी के विरुद्ध अधिकार का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय या न्यायपालिका ऐसे व्यक्तियों के जीवन रक्षा के लिए रिट जारी करती है कि यह विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं है, लेकिन केशव सिंह वाद में भी सर्चलाइट के उस निर्णय को स्वीकार किया गया, जिसके अंतर्गत् व्यक्ति की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की तुलना में संसदीय विशेषाधिकार ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। संसदीय विशेषाधिकारों और न्यायिक पुनरावलोकन के मध्य विवाद में न्यायपालिका ने नरसिंह राव केस में नरसिंह राव को संसद के अंतर्गत् कार्यवाही के आधार पर बरी कर दिया। आलोचकों के अनुसार क्या संसदीय विशेषाधिकार के नाम पर भ्रष्टाचार के अधिकार दिए जा सकते हैं? **किहोतो होलोहॉन वाद, 1992 में** न्यायपालिका ने तो यहां तक कह दिया कि स्पीकर द्वारा दिए गए दल-बदल निर्णय का भी न्यायिक पुनरावलोकन हो सकता है, क्योंकि स्पीकर की भूमिका अर्द्ध-न्यायिक होती है। झारखण्ड विधान सभा के मामले में तो न्यायपालिका ने विश्वास मत प्राप्त करने की तिथि और प्रक्रिया का भी निर्धारण कर दिया। इसे संसदीय विशेषाधिकारों का घोर उल्लंघन कहा गया, क्योंकि विश्वास मत प्राप्त करने की तिथि और प्रक्रिया के निर्धारण का

अधिकार सदन को है। इस संबंध में संविधान ने संसद को पूर्ण शक्ति प्रदान की है। ठीक इसी प्रकार ग्यारह सांसदों की बर्खास्तगी के मामले में जब न्यायपालिका ने लोक सभा अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी को नोटिस जारी किया, तो सोमनाथ चटर्जी ने पूरे देश के स्पीकरों का सम्मेलन बुलाया तथा उन्होंने यह तर्क दिया कि सांसदों के निष्कासन का अधिकार स्पीकर और सदन को है, जिस संबंध में न्यायपालिका सदन को कोई आदेश नहीं दे सकती। न्यायपालिका के अनुसार, 'न्यायिक पुनरावलोकन से न्यायपालिका को वंचित नहीं किया जा सकता। यद्यपि न्यायपालिका ने भी यह माना कि सांसदों के निष्कासन का अधिकार संसद को है, लेकिन न्यायपालिका को भी न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार है।'

सामान्य विधानों और अध्यादेशों का न्यायिक पुनरावलोकन

सामान्य विधानों और अध्यादेशों के न्यायिक पुनरावलोकन पर कोई विवाद नहीं है। यहां यह बिंदु महत्वपूर्ण है कि विधि और अध्यादेश का अभिप्राय समान रूप में लिया जाता है। सामान्य विधियों और अध्यादेशों का न्यायिक पुनरावलोकन किया जाता है। यदि इससे मूल अधिकार का उल्लंघन हो या विधि का निर्माण सातवीं अनुसूची में उल्लिखित विधायी शक्तियों के अनुरूप न किया जाय। उदाहरण के लिए, यदि संघ सरकार द्वारा राज्य सूची के विषय पर विधि का निर्माण किया जा रहा है, तो न्यायपालिका इसे अवैध घोषित कर सकती है। ठीक इसी प्रकार अध्यादेशों का भी पुनरावलोकन किया जा सकता है। यदि ये मूल अधिकारों का उल्लंघन करते हों या अध्यादेश में सातवीं अनुसूची के विधायी शक्तियों के विभाजन का पालन न किया गया हो।

संवैधानिक संशोधनों का न्यायिक पुनरावलोकन

भारतीय लोकतंत्र के आरंभिक वर्षों से ही न्यायिक पुनरावलोकन को सीमित करने के प्रयास किए गए। उदाहरण के लिए, पहले संविधान संशोधन से नौवीं अनुसूची का निर्माण करके उस अनुसूची में सम्मिलित विषयों को न्यायिक पुनरावलोकन से प्रतिबंधित कर दिया गया। यह बिन्दु ध्यान देने योग्य है कि 50 और 60 के दशक में संसद में कभी भी न्यायिक पुनरावलोकन को समाप्त करने का प्रयास नहीं किया गया, अपितु न्यायपालिका की स्वतंत्रता का सम्मान किया गया, लेकिन सामाजिक हित में कुछ विषयों को न्यायिक पुनरावलोकन से बाहर रखने का प्रयास किया गया। लोकतंत्र के इन वर्षों में संसद ने अनेक सामाजिक विधियों का निर्माण किया। एक ओर संसद ने संविधान का संशोधन किया, तो दूसरी ओर न्यायपालिका ने न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रयोग किया। इसलिए यह विवाद का बिन्दु नहीं था कि क्या संवैधानिक संशोधनों का न्यायिक पुनरावलोकन हो सकता है? लेकिन 25वें संविधान संशोधन, 1971 द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन को प्रतिबंधित करने का प्रयास किया गया। इसके पहले 24वें संविधान संशोधन, 1971 से संविधान संशोधनों को न्यायिक पुनरावलोकन से बाहर रखने का प्रयास किया, लेकिन न्यायपालिका ने इस प्रयास को अवैध करार दिया। उदाहरण के लिए, केशवानंद भारती वाद में न्यायपालिका ने यह स्पष्ट कहा कि न्यायिक पुनरावलोकन संविधान के आधारभूत ढांचे का भाग है। सरकार ने पुनः 39वें संविधान संशोधन, 1975 द्वारा राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, लोक सभा अध्यक्ष और प्रधानमंत्री के चुनाव को पुनरावलोकन से बाहर रखा, लेकिन न्यायपालिका ने इसे **इंदिरा बनाम् राज नारायण वाद में** अवैध घोषित किया। सरकार ने पुनः 42वां सविधान संशोधन, 1976 करते हुए अनुच्छेद-368 (4)(5) का निर्माण किया तथा संविधान संशोधन को न्यायिक पुनरावलोकन से बाहर रखने की व्यवस्था की। मिनर्वा मिल्स वाद में न्यायपालिका ने पुनः इसे अवैध घोषित किया। इसलिए निष्कर्षतः संविधान संशोधनों का भी न्यायिक पुनरावलोकन हो सकता है।

सीमाएं

भारतीय संविधान में सरकार का कोई अंग सर्वोच्च नहीं है, लेकिन जहां संविधान की व्याख्या का प्रश्न होगा, तो न्यायपालिका की प्राथमिकता स्वाभाविक रूप में स्थापित होगी। संविधान निर्माताओं ने अमेरिकी न्यायपालिका की सर्वोच्चता की संकल्पना को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि अमेरिका में इसके द्वारा सामाजिक विधानों पर प्रतिकूल प्रभाव देखा गया। भारत जैसे नवजात लोकतंत्र के लिए प्रारंभ में ही शासन के अंगों के मध्य संघर्ष की कल्पना नहीं की जा सकती थी। संविधान निर्माताओं ने न्यायपालिका के न्यायिक पुनरावलोकन के महत्व को रखते हुए संविधान में ही प्रतिबंध आरोपित कर दिए। **ये प्रतिबंध निम्नलिखित हैं** -

1. मंत्रिपरिषद् द्वारा राष्ट्रपति या राज्यपाल को दी गयी सलाह की न्यायपालिका द्वारा जांच नहीं की जा सकती।
2. राष्ट्रपति या राज्यपाल के नाम पर निर्मित या क्रियान्वित किसी विधि का परीक्षण न्यायालय इस आधार पर नहीं कर सकता कि किसी अन्य ने तो इसका निर्माण नहीं किया है।
3. संसद की शक्तियों तथा विशेषाधिकारों का न्यायपालिका के द्वारा न्यायिक पुनरावलोकन नहीं किया जा सकता।

4. संसद तथा विधायिका के द्वारा किये गये कार्य की या सदस्यों द्वारा प्रेरित शक्तियों का न्यायिक पुनरावलोकन नहीं किया जा सकता।
5. न्यायालय, संसद तथा विधायिका की प्रक्रिया की वैधानिकता का पुनरीक्षण नहीं कर सकते।
6. अंतर्राज्यीय जल विवादों को भी न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र से बाहर रखा गया है।
7. निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन का भी न्यायिक पुनरावलोकन नहीं हो सकता।
8. राष्ट्रपति तथा राज्यपाल द्वारा अपनी शक्तियों तथा कार्यों के करने के संदर्भ में कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जिन्हें न्यायिक पुनरावलोकन से बाहर रखा गया है।

उपरोक्त बिन्दुओं से स्पष्ट है कि भारत में न्यायिक पुनरावलोकन स्वीकार किया गया है, न्यायिक सर्वोच्चता का सिद्धांत नहीं। क्योंकि न्यायपालिका की शक्तियों पर संविधान द्वारा प्रतिबंध आरोपित हैं।

न्यायिक सक्रियता

न्यायपालिका द्वारा कार्यपालिका व विधायिका के कार्यों में हस्तक्षेप किया जाए, तो इसे न्यायिक सक्रियता कहा जाता है। न्यायपालिका का मूल कार्य सरकार के विभिन्न अंगों के मध्य विद्यमान विवादों का समाधान करना तथा इसके द्वारा मूल अधिकारों की रक्षा की जाती है और संविधान की व्याख्या एवं संरक्षण न्यायपालिका के मूल कार्य हैं। परंपरागत् रूप में न्यायपालिका के द्वारा मूल अधिकारों की रक्षा के लिए विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का प्रयोग किया गया, जबकि मेनका गांधी वाद (1976) में न्यायपालिका ने विधि की उचित प्रक्रिया को स्वीकार कर लिया, जो न्यायपालिका के कार्य प्रणाली में बड़े परिवर्तन का उदाहरण है। आरंभिक रूप में न्यायपालिका के द्वारा मूल अधिकारों की संकीर्ण व्याख्या की गई, परंतु वर्तमान में मूल अधिकारों की उदारवादी व्याख्या की जा रही है और व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं जीवन के अधिकार को एक-दूसरे का पूरक माना गया है तथा जीवन के अधिकार में आजीविका, शिक्षा तथा गोपनीयता जैसे अधिकार भी शामिल कर लिए गए हैं।

आरंभ में संसद के द्वारा सामाजिक न्याय के आदर्शों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया, जिसके लिए संसद ने संविधान में अनेक संशोधन किए तथा न्यायपालिका के द्वारा इन संशोधनों का सम्मान किया गया एवं इनका न्यायिक परीक्षण नहीं किया गया। परंतु वर्ष-1973 में केशवानंद भारती वाद में उच्चतम न्यायलय के द्वारा आधारभूत ढांचे का विचार प्रतिपादित किया गया, जिससे न्यायपालिका ने संसद के संविधान संशोधन की शक्ति को सीमित कर दिया और कहा कि संसद मूलभूत ढांचे का संशोधन नहीं कर सकती तथा मूलभूत ढांचे का निर्धारण न्यायपालिका के द्वारा किया जाएगा। संविधान लागू होने के आरंभिक वर्षों में राष्ट्रपति के द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति की गई, परंतु गठबंधन सरकारों के युग में न्यायपालिका ने अपनी शक्तियों में निर्णायक वृद्धि किया। वर्ष-1993 के जजेज वाद में न्यायपालिका ने न्यायाधीशों की नियुक्ति में न्यायपालिका की प्राथमिकता को स्वीकार किया, जिससे भारत में न्यायाधीश ही न्यायाधीश की नियुक्ति करने लगे। अतः भारत की न्यायपालिका विश्व की सबसे शक्तिशाली न्यायपालिका बन गई।

वर्ष-1980 के दशक से न्यायपालिका के द्वारा जनहित याचिका का प्रतिपादन किया गया। न्यायपालिका ने नागरिकों के मूल अधिकारों को अत्यधिक महत्व दिया तथा वंचित और गरीब लोगों के मानवाधिकार की रक्षा के लिए सक्रिय प्रयास किया। अतः पुलिस को बर्बरता, अमानवीय यातना, बंदीगृह में मृत्यु और बलात्कार जैसी घटनाओं को रोकने के लिए न्यायालयों ने कड़े निर्देश जारी किए। न्यायपालिका ने पर्यावरण को शुद्ध रखने पर भी बल दिया। 90 के दशक में न्यायिक सक्रियता का विवाद उस समय और प्रभावी हुआ, जब गठबंधन सरकार के युग में मंत्रिमण्डलीय स्तर पर भ्रष्टाचार के मामले प्रकाश में आए। उच्चतम न्यायालय ने निर्णय देते हुए सी. बी. आई. (C.B.I.) की स्वतंत्रता और स्वायत्तता का समर्थन किया। इसी समय हवाला कांड भी प्रकाश में आया, जिसमें न्यायपालिका ने सरकार को यह निर्देश दिया कि सी. बी. आई. की रिपोर्ट सीधे न्यायपालिका को भेजी जाय। न्यायमूर्ति जे. एस. वर्मा ने यह कहा कि तटस्थता के लिए यह आवश्यक था कि सी. बी. आई. न्यायपालिका को रिपोर्ट करे, प्रधानमंत्री को नहीं। इसका सीधा अभिप्राय हुआ कि सी. बी. आई. को नियंत्रित करने का अधिकार कार्यपालिका के हाथ में नहीं रहा। इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप कार्यपालिका बनाम् न्यायपालिका की बहस और प्रभावी हुई। लोक सभा स्पीकर पी. ए. संगमा ने कहा कि न्यायपालिका के कार्य खतरनाक हैं, क्योंकि ये विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप करके न्यायाधीश लोकप्रियता प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं।

इसी दौरान अनेक सामाजिक संगठनों के द्वारा जनहित याचिकाएं (PIL) दायर की गयीं, जिसमें बड़े बांधों का मुद्दा, बच्चों और बंधुआ मजदूरों का मामला और एम. सी. मेहता ने पर्यावरण के संरक्षण से संबंधित मामले उठाए। एच.

बी. शौरी ने नागरिक समाज के हित में अनेक जनहित याचिका का प्रयोग किया। ताजमहल के मामले में उच्चतम न्यायालय ने 212 उद्योगों को बंद करने का आदेश दिया। वर्ष-1996-97 में उच्चतम न्यायालय ने दिल्ली से औद्योगिक इकाईयों को बाहर करने का आदेश दिया, क्योंकि ये इकाईयां घनी आबादी में कार्यरत थीं। वर्ष-2000 में उच्चतम न्यायालय ने यमुना को प्रदूषण से बचाने के लिए दिल्ली सरकार को निर्देश दिए। वर्ष-2013 में उच्चतम न्यायालय के द्वारा अनेक महत्वपूर्ण निर्णय दिए गए। लिलि थॉमस वाद में उच्चतम न्यायालय के द्वारा **जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951** की धारा-8 के खण्ड-4 को अवैधानिक करार दिया, जिससे वे सांसद जिन्हें न्यायपालिका के द्वारा 2 वर्ष या इससे ज्यादा की सजा प्राप्त हुई थी, उनकी सदस्यता निरस्त कर दी गई। उच्चतम न्यायालय ने **जन चौकीदार वाद में** एक महत्वपूर्ण निर्णय देते हुए कहा कि वे उम्मीदवार जो हिरासत में रखे गए हैं, उन्हें मतदान का अधिकार नहीं होगा। यद्यपि संसद के द्वारा विधि का निर्माण करके इस निर्णय को परिवर्तित कर दिया गया। **पी. यू. सी. एल. वाद में** उच्चतम न्यायालय ने एक ऐतिहासिक निर्णय देते हुए कहा कि मतदाताओं को चुनाव में भाग ले रहे सभी उम्मीदवारों को अस्वीकृत करने का अधिकार है, जिसे लोकप्रिय रूप में **नोटा** कहा जाता है। वर्ष-2013 में ही टी. एस. आर. सुब्रमणियम वाद में उच्चतम न्यायालय के द्वारा सिविल सेवा में सुधार के लिए सरकार को निर्देश दिया गया और न्यायपालिका ने कहा कि सिविल सेवकों के कार्यकाल को स्थायी बनाना होगा तथा उनके स्थानांतरण और प्रोन्नति के लिए एक सिविल सेवा बोर्ड के गठन का सुझाव दिया तथा सिविल सेवकों की नियुक्ति को राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त करने का निर्देश दिया। अतः न्यायपालिका के इस परिवर्तित दृष्टिकोण को आलोचकों ने **सक्रियता** का नाम दिया।

कार्यपालिका का दृष्टिकोण

न्यायिक सक्रियता एक विवादास्पद संकल्पना है, जिसके संबंध में न्यायपालिका और कार्यपालिका के अलग-अलग तर्क हैं। कार्यपालिका के अनुसार, न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका के कार्यों में हस्तक्षेप कर रही है। वर्तमान परिस्थितियों में न्यायपालिका पर भी नियंत्रण स्थापित करने के लिए किसी संस्था की आवश्यकता है, क्योंकि अनेक न्यायाधीशों के विरुद्ध भी दुराचार और भ्रष्टाचार के मामले पाए गए हैं। लोकतंत्र में सरकार के किसी भी अंग को अनियंत्रित शक्ति प्रदान नहीं की जा सकती, क्योंकि संविधान में ही शासन के प्रत्येक अंगों पर प्रतिबंध है। कार्यपालिका या विधायिका के अनुसार, वस्तुतः न्यायाधीश जनता द्वारा निर्वाचित नहीं होते, इसलिए सामाजिक न्याय का मूल दायित्व संसद का है, न्यायपालिका का नहीं। न्यायपालिका तो विवादों के समाधान की एक संस्था है, जिसका कार्य द्वितीयक है, प्राथमिक नहीं। संविधान में शासन के प्रत्येक अंगों के कार्य निर्धारित हैं। इसलिए न्यायपालिका, विधायिका या कार्यपालिका को कार्यों का आदेश नहीं दे सकती। वस्तुतः इनका यह भी तर्क है कि वित्तीय एवं प्रशासनिक विषयों का ज्ञान न्यायपालिका के पास नहीं होता। ऐसे मामलों में न्यायपालिका सरकार को निर्देश नहीं दे सकती।

न्यायपालिका का दृष्टिकोण

न्यायालय केवल विवादों के समाधान की संस्था नहीं है, बल्कि इसका कार्य सामाजिक न्याय का संपादन भी है। न्यायपालिका के अनुसार, संविधान की व्याख्या इसका मूल कार्य है। परंतु संविधान की व्याख्या परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार होनी चाहिए। यह सत्य है कि भारत में संसदीय शासन प्रणाली स्वीकार की गयी है। संविधान निर्माताओं ने संसद को प्राथमिक बनाने का प्रयत्न भी किया है, लेकिन जनप्रतिनिधि के नाम पर भ्रष्टाचार और गैर-संवैधानिक कार्य करने की अनुमति किसी को भी नहीं हो सकती। भारतीय राजनीति में जिस प्रकार अपराधीकरण बढ़ा है। उस परिस्थिति में संसदीय शासन के नाम पर न्यायिक पुनरावलोकन पर प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। इसलिए यदि न्यायिक सर्वोच्चता की संकल्पना स्वीकार नहीं की जा सकती, तो संसदीय सर्वोच्चता की मान्यता भी स्वीकार करना कठिन है। इसलिए व्यवहार में न्यायपालिका की स्वतंत्रता और स्वायत्तता आवश्यक है, जबकि जनप्रतिनिधियों को संविधान निर्माताओं के आदेश को ध्यान में रखना होगा।

न्यायिक अतिसक्रियता

संविधान में न्यायपालिका को संविधान की व्याख्या का अधिकार है और न्यायपालिका संविधान की व्याख्या के लिए नवीन दृष्टिकोण अपना सकती है, परंतु नीति-निर्माण का कार्य पूर्णतः कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार का विषय है, जिस पर न्यायपालिका हस्तक्षेप नहीं कर सकती। वर्तमान में न्यायपालिका द्वारा कार्यपालिका को नीति-निर्माण संबंधी आदेश देना ही **न्यायिक अतिसक्रियता** है। हाल ही में न्यायपालिका ने बी. सी. सी. आई. के प्रमुख के रूप में सुनील गावस्कर की नियुक्ति, गेहूं को गरीबों में मुफ्त बांटने का आदेश, केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त की नियुक्ति को रद्द करना, काले धन हेतु सरकार द्वारा गठित विशेष जांच टीम के सदस्यों पर न्यायपालिका ने आपत्ति उठायी तथा 2ळ.स्पेक्ट्रम मामले

की जांच उच्चतम न्यायालय द्वारा स्वयं की जा रही है। कोलेजियम व्यवस्था के माध्यम से न्यायाधीशों की नियुक्ति स्वयं न्यायाधीश कर रहे हैं। अत: न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति की प्राथमिकता समाप्त हो गयी है। वर्ष-2016 में उच्चतम न्यायालय के द्वारा सरकार को **सूखा राहत कोष** स्थापित करने के लिए निर्देश दिया गया तथा इसी वर्ष दिल्ली में प्रदूषण को कम करने के लिए भारी वाहनों पर पर्यावरणीय कर लागू करने का निर्देश दिया गया। आलोचकों के अनुसार, न्यायपालिका, कार्यपालिका के कार्यों में हस्तक्षेप कर रही है।

संविधान में न्यायपालिका और विधायिका के मध्य सामंजस्य स्थापित किया गया है। व्यावहारिक रूप में यदि सरकार के तीनों अंगों के मध्य सामंजस्य नहीं होगा, तो प्रशासन का कार्य प्रभावी नहीं हो सकता, क्योंकि न्यायपालिका द्वारा दिए गए निर्णय को लागू करने का दायित्व कार्यपालिका का है। यदि कार्यपालिका उन निर्णय को लागू न करे, तो व्यवहार में वे निरर्थक हो जाएंगे। इसलिए आवश्यकता सामंजस्य की है, संघर्ष की नहीं। यद्यपि न्यायपालिका ने बाल्को (BALCO) विनिवेश केस में स्पष्ट रूप से कहा कि आर्थिक नीतियों के निर्धारण का अधिकार सरकार को है, न्यायपालिका का नहीं। एन. सी. ई. आर. टी. केस में न्यायपालिका ने पुन: यह दोहराया कि शैक्षिक पाठ्यक्रमों को निर्धारित करने का अधिकार सरकार का है, न्यायपालिका का नहीं।

जनहित याचिका (PIL)

वर्ष-1980 के दशक से भारत की न्यायिक प्रणाली में एक महत्वपूर्ण सकारात्मक परिवर्तन देखा गया। न्यायपालिका द्वारा वादी, प्रतिवादी न्याय की प्रक्रिया में परिवर्तन करते हुए सुने जाने का अधिकार (न्यायपालिका में पहुंचने का अधिकार) का विस्तार किया। इसी प्रक्रिया परिवर्तन के परिणामस्वरूप जनहित याचिका या सामाजिक हित याचिका का जन्म हुआ। जनहित याचिका की शुरुआत वर्ष-1980 के दशक से हुई। इसके अंतर्गत् कोई तीसरा व्यक्ति भी समूह के अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय में जा सकता है। न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती तथा वी. आर. कृष्णा अय्यर द्वारा जनहित याचिका को प्रमुखता प्रदान की गई। जनहित याचिका की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके माध्यम से आम लोगों को पहली बार उच्चतम न्यायालय पहुंचने का मौका मिला।

अर्थ

ऐसी याचिका, जो समूह के अधिकारों की रक्षा के लिए प्रस्तुत की जाए और यह किसी व्यक्ति के लिए भी प्रस्तुत की जा सकती है, यदि समूह के अधिकार उससे जुड़े हों। जैसे-महिला समूह, बच्चे, कैदी इत्यादि। जनहित याचिका परंपरागत् अदालती याचिकाओं से भिन्न होती हैं, क्योंकि यह विवाद सुलझाने का माध्यम न होकर सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए है। इसीलिए जनहित याचिका को **सामाजिक हित याचिका** के नाम से भी जानते हैं। इसमें सामाजिक कल्याण की भावना का समावेश होता है।

जनहित का आशय, समूह के अधिकारों की रक्षा के लिए याचिका प्रदान करना है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि जिस व्यक्ति के अधिकारों का उल्लंघन हुआ है, वही व्यक्ति न्यायपालिका पहुंचे, अपितु कोई तीसरा व्यक्ति या सामाजिक कार्यकर्त्ता भी समूह के अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायपालिका में जा सकता है। न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्ण अय्यर तथा पी. एन. भगवती के अनुसार, 'न्याय मूलत: सामाजिक होता है तथा न्यायपालिका भी सामाजिक न्याय प्रदान करने का महत्वपूर्ण अंग है।' न्यायपालिका ने पोस्ट कॉर्ड को रिट के रूप में स्वीकार किया। वर्ष-1982 के एस. पी. गुप्ता बनाम् भारत संघवाद (जजेज केस) में न्यायपालिका ने जनहित याचिका को औपचारिक मान्यता प्रदान की तथा इसके प्रयोग का विकसित मानदण्ड भी निर्धारित किया। न्यायपालिका ने अपने कार्य प्रणाली में परिवर्तन करते हुए स्वत: संज्ञान लेते हुए समूह के अधिकारों की रक्षा के लिए पहल किया। एक पूर्व न्यायाधीश के अनुसार, जनहित याचिका का आशय, लोगों को चौपाल पर न्याय प्रदान करना है। पूर्व मुख्य न्यायाधीश जे. एस. वर्मा के अनुसार, 'जनहित याचिका त्वरित, सस्ता और सुलभ न्याय प्रदान करने का साधन है।'

विशेषताएं

जनहित याचिका की विशेषताएं निम्नलिखित रूप में व्यक्त की जा सकती हैं -

- इसमें न्याय व्यक्ति विशेष के हित में न होकर समूह के हित में दिया जाता है।
- इसमें जटिल औपचारिक क्रियाओं का अभाव होता है।
- जनहित याचिका के द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों को मान्यता प्रदान की गयी।
- जनहित याचिका में प्रक्रिया के बजाय, न्याय को प्राथमिकता दिया गया।
- जनहित याचिका के द्वारा वादी के पक्ष में कोई तीसरा या अन्य व्यक्ति रिट दायर कर सकता है।

- न्यायपालिका, वादी की सहायता करती है तथा इसके अंतर्गत् तथ्य इकट्ठा करने में न्यायपालिका ने जांच आयोग की स्थापना भी की।

चरण

प्रथम चरण

जनहित याचिका के प्रयोग के पहले चरण में समूह के अधिकारों की रक्षा का प्रयास किया गया। उदाहरण के लिए, एशियाड वर्कर्स केस में न्यायपालिका ने कम मजदूरी दिए जाने को जीवन के अधिकार का उल्लंघन माना, जबकि बंधुआ मुक्ति मोर्चा वाद में न्यायपालिका ने बालश्रम को रोकने का निर्देश दिया।

द्वितीय चरण

जनहित याचिका के द्वितीय चरण में पर्यावरण की रक्षा के लिए जनहित याचिका दायर हुई, जिसमें एम. सी. मेहता और भारत संघवाद ने ताजमहल पर तथा दिल्ली में प्रदूषण के प्रभाव को कम करने हेतु सार्वजनिक परिवहन में सी. एन. जी. प्रयोग करने का अदालत ने निर्देश दिया। न्यायपालिका ने यह भी कहा कि दिल्ली से औद्योगिक प्रदूषणकारी कारखानों को बाहर किया जाए।

तृतीय चरण

जनहित याचिका के तीसरे चरण में भ्रष्टाचार को रोकने के लिए अनेक जनहित याचिकाएं दायर हुईं, जिसमें हवाला घोटाला, यूरिया घोटाला एवं चारा घोटाला जैसे मुद्दों पर न्यायपालिका ने सरकार को निर्देश दिया। विनीत नारायण वाद में न्यायपालिका ने तो यहां तक कहा कि सी. बी. आई. सीधे सुप्रीम कोर्ट को रिपोर्ट करे, न कि प्रधानमंत्री को। वर्ष-2002 में पी. यू. सी. एल. (PUCL) वाद में जन-प्रतिनिधित्व संशोधन अधिनियम, 2002 के संबंध में न्यायपालिका ने एक ऐतिहासिक निर्णय देते हुए कहा कि चुनाव में भाग ले रहे प्रत्याशियों को अपनी आपराधिक पृष्ठभूमि, वित्तीय देनदारी और शैक्षिक पृष्ठभूमि की जानकारी चुनाव आयोग को देनी होगी।

जनहित याचिका के द्वारा न्यायालय ने अपने कार्यों में विस्तार किया। आलोचकों के अनुसार न्यायालय, न्यायिक मुकद्दमों के कार्य से बढ़कर अतिरिक्त रूप में सक्रिय हो रही हैं। अतः जनहित याचिका के द्वारा न्यायिक सक्रियता का विवाद और गहरा हुआ। न्यायपालिका ने जनहित याचिका के द्वारा अपने **कार्यों का निम्नलिखित रूपों में विस्तार किया** -

1. मूल अधिकारों का विस्तार। उदाहरण के लिए, अनुच्छेद-21 की व्याख्या अत्यधिक व्यापक रूप में की गयी तथा जीवन के अधिकार में आवास का अधिकार एवं अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा का अधिकार भी सम्मिलित किया गया।
2. न्यायालय द्वारा संविधान की व्याख्या अंतर्संबंधित रूप में की गयी तथा मूल अधिकार और निदेशक तत्वों को पूरक माना गया।
3. उच्चतम न्यायालय ने विभिन्न मामलों की जांच के लिए आयोगों का गठन किया। उदाहरण के लिए, बंधुआ मुक्ति मोर्चा वाद में न्यायालय ने एक आयोग का गठन किया।
4. सरकार को समय-समय पर विभिन्न निर्देश दिए गए।
5. सरकार को विभिन्न नीतियों को बनाने का सुझाव देना।

आलोचना

जनहित याचिका को लेकर विधायिका और न्यायालय के मध्य संघर्ष प्रारंभ हुआ। आलोचकों के अनुसार, यह जनहित याचिका नहीं, अपितु प्रचारहित याचिका है तथा न्यायालय ज्यादा से ज्यादा विषयों में हस्तक्षेप प्रचार पाने के लिए कर रहा है। कुछ लोग जनहित याचिका का प्रयोग राजनीतिक प्रतिस्पर्धा और विद्वेष के कारण भी करते हैं। अतः आलोचकों ने इसे पैसाहित याचिका भी कहा। मूल प्रश्न उत्पन्न होता है कि भारत जैसे देश में कितने लोगों को पत्रों के माध्यम से न्याय दिलाया जा सकता है, जबकि न्यायपालिका में पहले से ही लंबित मामले पड़े हैं। अतः जनहित याचिका के प्रयोग के साथ-साथ इसके दुरुपयोग को भी रोकने की आवश्यकता है। जनहित याचिका का प्रयोग उपयुक्त और विशिष्ट मामलों में ही होना चाहिए, सभी मामलों में नहीं।

सामाजिक न्यायपीठ

3 दिसंबर, 2014 को उच्चतम न्यायालय ने एक अभूतपूर्व कदम उठाते हुए **सामाजिक न्यायपीठ** गठित करने का निर्णय लिया। यह पीठ 12 दिसंबर से प्रत्येक शुक्रवार को दोपहर 2 बजे से सामाजिक समस्याओं से जुड़े मामलों की

सुनवाई कर रही है। उच्चतम न्यायालय द्वारा इस सामाजिक न्यायपीठ की जिम्मेदारी न्यायाधीश मदन बी. लोकुर तथा न्यायाधीश यू. यू. ललित को सौंपी गई है।

उद्देश्य

उच्चतम न्यायालय के अनुसार, **सामाजिक न्यायपीठ** के गठन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं –

1. यह पीठ खासकर महिलाओं, बच्चों और वंचित वर्गों से जुड़े सामाजिक मामलों का तेजी से निपटारा करेगी।
2. संविधान में उल्लिखित अधिकारों को आम लोगों तक पहुंचाने का प्रयास करना।
3. भारतीय संविधान के आदर्शों में शामिल सामाजिक न्याय की रक्षा के लिए इस पीठ का गठन किया गया है।

सामाजिक समस्याओं से जुड़े प्रमुख मुद्दे

उच्चतम न्यायालय द्वारा संक्षिप्त रूप से निम्नलिखित सामाजिक मुद्दों का उल्लेख किया गया –

- सार्वजनिक वितरण प्रणाली की नई रूपरेखा तैयार करना, जिससे गोदामों में पड़े अनाज को गरीबों एवं अकाल प्रभावित क्षेत्रों में वितरण किया जा सके।
- पौष्टिक आहार के अभाव के कारण महिलाओं एवं बच्चों की होने वाली अकाल मौत से रोकना।
- नि:सहाय तथा बेघर लोगों के लिए आश्रय गृह एवं पेयजल की सुविधा संबंधी मामले।
- सभी नागरिकों को चिकित्सा सुविधा मुहैया कराना चाहे उनकी स्थिति कैसी भी क्यों न हो?
- सामाजिक पीठ के दायरे में देह व्यापार से संबंधित महिलाओं के लिए सुरक्षित जीवन सुनिश्चित करने जैसे मुद्दे भी शामिल हैं।

.....

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learnig Platform
KHAN SIR

अधीनस्थ न्यायालय
(Subordinate Court)

जिला न्यायालय (अनुच्छेद-233)

भारत में उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों से नीचे के न्यायालयों को अधीनस्थ न्यायालय कहा जाता है। इन न्यायालयों पर राज्य के उच्च न्यायालय का नियंत्रण होता है। अधीनस्थ न्यायालयों के द्वारा मूल अधिकारों की रक्षा नहीं की जाती, न ही इनके द्वारा संविधान की व्याख्या की जाती है, बल्कि जिला न्यायालय भारतीय दण्ड संहिता एवं आपराधिक प्रक्रिया संहिता से संबंधित मामलों पर विचार करते हैं तथा जिला न्यायालय ट्रॉयल कोर्ट होते हैं। जिला न्यायालय दाण्डिक मामलों में किसी भी व्यक्ति को मृत्युदण्ड दे सकता है तथा जिला न्यायाधीश जब आपराधिक मामलों पर विचार करता है, तो उसे सत्र न्यायाधीश कहा जाता है और सिविल मामलों पर विचार करते समय वह जनपद न्यायाधीश कहलाता है। सामान्यतः प्रत्येक जनपद में जिला न्यायालय होता है।

न्यायपालिका की संरचना

न्यायाधीशों की नियुक्ति

जिला न्यायाधीश की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय की सलाह से की जाती है, इसमें जिला न्यायाधीश के अलावा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय एवं राज्य लोक सेवा आयोग की सलाह से की जाती है। जिला न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए उम्मीदवार को 7 वर्षों का वकालत करने का अनुभव होना चाहिए अथवा 7 वर्षों तक भारत के राज्य क्षेत्र में न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका हो। राज्य सरकारों के द्वारा जनपद न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं इनकी सेवा शर्तों का निर्धारण किया जाता है। इन्हें अपने पद से राज्यपाल के द्वारा हटाया जा सकता है और इन्हें हटाने के लिए महाभियोग जैसी प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती है।

शक्तियां

जनपद न्यायालय के द्वारा सिविल मामलों अथवा दीवानी मामलों तथा आपराधिक या दाण्डिक मामलों पर भी विचार किया जाता है। अधीनस्थ न्यायालय से जनपद न्यायालय के लिए अपील का प्रावधान है। पैसे के लेन-देन से जुड़े हुए विवाद तथा आपराधिक विवाद जनपद न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं। आपराधिक मामले की सुनवाई आरंभिक रूप में जनपद न्यायालय में होती है और जनपद न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध उच्च न्यायालय में अपील का प्रावधान है।

ट्रॉयल कोर्ट

अधीनस्थ न्यायालयों अथवा जनपद न्यायालयों को ट्रॉयल कोर्ट के नाम से भी जाना जाता है, जिसके द्वारा विभिन्न विवादों में अभियुक्तों की गवाही एवं संबंधित पक्षों के सबूत दर्ज किए जाते हैं तथा इनके द्वारा किसी भी व्यक्ति को अधिकतम सजा अथवा मृत्युदण्ड भी दिया जा सकता है। वर्तमान में ट्रॉयल कोर्ट में लगभग 2 करोड़ मामले लंबित हैं। ट्रॉयल कोर्ट में कोई बेहतर वकील वकालत भी नहीं करना चाहता। इसलिए न्यायपालिका में सुधार के लिए पहले ट्रॉयल कोर्ट में सुधार की आवश्यकता है, जो राज्य सरकारों के अधीन होते हैं।

न्यायपालिका के समक्ष समस्याएं

भारत में न्यायपालिका के समक्ष भारी संख्या में मामले लंबित हैं और न्याय देने में विलंब हो रहा है। उदाहरण के लिए, वर्ष-1993 के मुंबई बम विस्फोट में शामिल व्यक्तियों को 23 वर्ष बाद सजा सुनाई गई। न्याय में विलंब अन्याय के समान होता है। भारत में न्यायिक प्रक्रिया अत्यधिक जटिल और औपचारिक है, जिससे आम लोग न्यायिक व्यवस्था से अपना अलगाव महसूस करते हैं और न्याय प्राप्त करने का खर्च भी अत्यधिक है। इसलिए न्याय आम लोगों के पहुंच से बाहर हो गया है। न्यायपालिका में भ्रष्टाचार के मामले भी दर्ज किए जा रहे हैं। न्यायपालिका में वरिष्ठ वकीलों एवं न्यायाधीशों के बीच सांठ-गांठ से आम व्यक्तियों को वास्तविक न्याय नहीं मिल पा रहा है।

न्यायपालिका में काम-काज की भाषा आम लोगों की भाषा से अलग है। इसलिए न्याय प्राप्त करने में प्रक्रिया बाधा बन गई है। भारत में उच्चतम न्यायालय के द्वारा दिए गए निर्णय अलग-अलग न्यायाधीशों के द्वारा पृथक्-पृथक् दिए जाते हैं, जिसके कारण निर्णय देने में विलंब होता है तथा न्यायपालिका के समक्ष मामले लंबित होते हैं। भारत में आम

जनता एवं न्यायाधीशों के बीच अनुपात अत्यधिक कम है, जिसे बढ़ाने की आवश्यकता है, क्योंकि बढ़ती जनसंख्या के अनुपात में न्यायालयों की स्थापना नहीं हो सकती।

न्यायपालिका के समक्ष लंबित मामले

- वकीलों के व्यवहार को नियंत्रित करने वाली प्रभावी विधि का अभाव, क्योंकि प्रसिद्ध एवं विशेषज्ञ वकील एक ही साथ अनेक न्यायालय में किसी न किसी मामले में उपस्थित होते हैं, जिससे वे न्यायपालिका से बार-बार स्थगन लेते हैं।
- विभिन्न उद्देश्यों के लिए विशेष न्यायालयों का निर्माण किया जाता है। जबकि भारत में पहले से ही न्यायाधीशों की संख्या कम है।
- विभिन्न उच्च न्यायालयों एवं अधीनस्थ न्यायालयों में न्यायाधीशों के पद रिक्त हैं।
- भारत में प्रति 10 लाख की जनसंख्या के अनुपात में केवल 18 न्यायाधीश हैं। जबकि कम से कम 50 न्यायाधीश होने चाहिए।
- वादी-प्रतिवादी न्याय की प्रणाली के अंतर्गत् मामलों के निर्धारण में अधिक समय लगता है।
- कई बार देश के अलग-अलग भागों से विभिन्न मामलों को नई दिल्ली स्थानांतरित किया जाता है, जिससे न्यायपालिका में मामले लंबित होते हैं।
- उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय में अनेक जनहित याचिकाएं दायर की जाती हैं, जो अवास्तविक होती हैं।
- भारत में उच्चतम न्यायालय वर्ष में केवल 193 दिन ही कार्य करता है। इसलिए न्यायपालिका की छुट्टियों को भी कम करने की आवश्यकता है।

अखिल भारतीय न्यायिक सेवा (All India Judicial Service)

भारत में न्यायपालिका के सुधार के लिए अनेक सुझाव दिए गए हैं, जिनमें अखिल भारतीय न्यायिक सेवाओं का विचार महत्वपूर्ण है। अधीनस्थ न्यायपालिका में नियुक्ति के लिए अभी भी राजनीतिक मापदंड अत्यधिक प्रभावी होते हैं। भारतीय संविधान में अखिल भारतीय सेवाओं का प्रावधान है, (अनुच्छेद-312) तथा संविधान में यह भी उल्लिखित है कि न्यायपालिका के लिए अखिल भारतीय न्यायिक सेवा का गठन संसद कर सकती है, परंतु संसद के द्वारा अभी तक इस सेवा का गठन नहीं किया गया है। अखिल भारतीय न्यायिक सेवा के द्वारा अधीनस्थ न्यायपालिका के लिए कुशल न्यायाधीश प्राप्त होंगे तथा न्यायाधीशों की नियुक्ति में पारदर्शिता का निर्माण होगा और न्यायपालिका की गुणवत्ता भी बेहतर होगी, परंतु इसके निर्माण में अनेक व्यावहारिक समस्याएं हैं।

उच्च न्यायालय के अधीन अन्य न्यायालय राज्य सूची के विषय हैं, जहां न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है तथा यह नियुक्ति काफी पूर्वाग्रह पर आधारित हो सकती है। अत: अधीनस्थ न्यायालयों की कार्यकुशलता तथा न्यायाधीशों की योग्यता में सुधार हेतु न्यायिक आयोग ने एक अखिल भारतीय न्यायिक सेवा गठित करने का सुझाव दिया। इस सेवा में जिला न्यायाधीश से अवर कोई अन्य पद नहीं होगा। इस सेवा का गठन विशेष बहुमत से राज्य सभा द्वारा किया जा सकता है, परंतु अब तक भारतीय न्यायिक सेवा का गठन विवादों में फंसा हुआ है। राज्य सरकारें इससे सहमत नहीं हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि इससे उनके अधिकारों में कटौती होगी। सभी राज्यों में अलग-अलग आधिकारिक भाषाएं हैं, जिसे सभी राज्यों के लिए एक समान परीक्षा प्रणाली का आयोजन कठिन है।

ग्राम न्याय पंचायत अधिनियम, 2008

यह अधिनियम भारत में ग्रामीण स्तर पर सस्ते न्याय उपलब्ध कराने हेतु लाया गया है। यह प्रथम श्रेणी के न्यायाधीशों की व्यवस्था करता है, जिन्हें **न्याय अधिकारी** का नाम दिया गया है। ये अधिकारी उच्च न्यायालय की सलाह से राज्य द्वारा नियुक्त किए जाएंगे। यह न्यायालय आपराधिक, दीवानी मामलों तथा अन्य विवादों का निपटारा करेगा। इसे अधिकतम 2 वर्षों की सजा देने का अधिकार है। यह अधिनियम घोषित आदिवासी क्षेत्रों में लागू नहीं होता है और अब तक छ: राज्यों ने इस अधिनियम के तहत कानूनों का निर्माण किया है।

फॉस्ट ट्रैक अदालतें

फॉस्ट ट्रैक अदालतें, जनपद अदालतों की भांति हैं, जिनका निर्माण आपराधिक मामलों को त्वरित रूप में निपटारे के लिए किया गया है, क्योंकि आपराधिक मामलों का लंबित होना न्याय के विरुद्ध तथा मानवाधिकारों के प्रतिकूल है। ये अदालतें 11वें वित्त आयोग की सिफारिश पर स्थापित की गईं, जिनका उद्देश्य ऐसे विवादों का जल्दी

निपटारा करना है, जिनमें अपराधी 5 वर्ष से अधिक समय तक अंडर ट्रॉयल के तहत जेल में रह रहे हैं। ये अदालतें उन मुकद्दमों को भी ले सकती हैं, जिनमें तुरंत न्याय की आवश्यकता रहती है। प्रत्येक जिले में 5 फॉस्ट ट्रैक अदालतों की स्थापना की व्यवस्था है।

प्ली बार्गेनिंग (Plea Bargaining)

प्ली बार्गेनिंग, वादी व प्रतिवादी के मध्य एक प्रकार का समझौता है, जिसमें अपराधी अपने गुनाह को इस शर्त पर स्वीकार कर लेता है कि उसे कम सजा दी जाएगी। इसमें बचाव पक्ष व अभियोजन पक्ष अदालत से बाहर समझौता कर सकते हैं तथा अपराधी अपना अपराध कबूल करता है। अत: अपराधी को निर्धारित दण्ड से कम दण्ड दिया जाता है।

उद्देश्य

इसका उद्देश्य अदालत और संबंधित पक्षों के समय और धन की बचत करना है। यह व्यवस्था अमेरिका तथा यूरोप के कुछ देशों में सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है। भारत के न्यायालयों में मुकद्दमों का अत्यधिक बोझ है। अत: यह व्यवस्था न्यायपालिका के कार्य को कम कर सकती है तथा लोगों को शीघ्र न्याय दिला सकती हैं। इस उद्देश्य से भारत में **आपराधिक विधि संशोधन अधिनियम, 2005** पारित किया गया। यह व्यवस्था केवल उन मामलों में लागू होती है, जिनमें अधिकतम 7 वर्षों का कारावास हो सकता है। यह महिलाओं व बच्चों के खिलाफ अपराधों में लागू नहीं होता है। इस व्यवस्था से फायदा यह है कि अदालतों के ऊपर से मुकद्दमों का भार कम किया जा सकता है, परंतु **प्ली बार्गेनिंग** आदर्श न्याय व्यवस्था के सिद्धांतों के खिलाफ है, क्योंकि कभी-कभी निर्दोष लोग भी सजा कम कराने के चक्कर में आरोप अपने ऊपर ले लेते हैं।

ग्राम न्यायालय

ग्राम न्यायालय अधिनियम, 2008 के द्वारा 2 अक्टूबर, 2009 से ग्राम न्यायालयों की स्थापना की गई है। इसमें न्यायाधीश की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय की सलाह से की जाएगी और ग्राम न्यायालय का न्यायाधीश **न्यायाधिकारी** कहलाएगा।

विशेषताएं

- ग्राम न्यायालय प्रत्येक पंचायत के खण्ड स्तर पर (मध्यवर्ती स्तर) स्थापित किए जाएंगे।
- ग्राम न्यायालय चलते-फिरते न्यायालय (मोबाइल कोर्ट) होंगे, जो अपने पास के गांवों में जाकर मामलों की सुनवाई करेंगे।
- ग्राम न्यायालय को सिविल व दाण्डिक दोनों तरह के मामलों की सुनवाई का अधिकार होगा।
- ग्राम न्यायालयों का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र के लोगों को उनके द्वार पर ही नि:शुल्क न्याय प्रदान करना है।

राष्ट्रीय मुकद्दमा नीति

यह नीति वर्ष-2010 में घोषित की गयी, जिसका ध्येय न्यायालय का समय बचाने हेतु लंबित मामलों का त्वरित समाधान करना है, जिसके तहत लंबित पड़े विवादों में स्वयं सरकार एक पक्ष के रूप में होती है। अत: मुकद्दमों के निपटाने हेतु सरकार न्यायालय में जिम्मेदारी के साथ सम्मिलित होगी। इस नीति में मुकद्दमों के निपटारे का औसत समय 15 वर्ष से घटाकर 3 वर्ष करना है। **इस नीति की निम्नलिखित विशेषताएं हैं** -

- यह नीति **वैकल्पिक विवाद समाधान व्यवस्था पर आधारित।** जैसे-लोक अदालतें एवं सुलह-समझौते इत्यादि के माध्यम से मुकद्दमों को निपटाने का समर्थन करती है।
- जिन मुकद्दमों में सरकार पक्षकार है, वहां तथ्यों का शीघ्र प्रस्तुतिकरण करना, जिससे तथ्यों के अभाव में मुकद्दमों में देरी न हो।
- न्यायालय में यदि सरकार का पक्ष कमजोर है, तो उसे अपनी गलती स्वीकार करते हुए मुकद्दमों से हट जाना चाहिए।
- सरकार द्वारा अपीलीय रिट का कम प्रयोग करना।
- सरकारी वकीलों में विशेषज्ञता लाना, जिससे विशेषीकृत याचिकाओं पर शीघ्र कार्यवाही हो।

विभिन्न प्रकार के न्यायालय (Alternative Mechanism of Judiciary)

भारत में समाज की जटिलता और आधुनिकता के साथ विवाद भी बढ़ रहे हैं, जिनका समाधान परंपरागत् न्यायपालिका के द्वारा संभव नहीं है। ऐसे अनेक प्रकार के विवाद होते हैं, जिनमें न्यायिक मामलों के अलावा प्रशासनिक मुद्दे भी शामिल होते हैं, जिन्हें हल करने के लिए अधिकरणों का गठन किया गया है। अधिकरणों में न्यायाधीशों के

अलावा प्रशासनिक अधिकारियों को भी शामिल किया जाता है। इनका मूल उद्देश्य परंपरागत् न्यायपालिका पर न्याय का बोझ कम करना है। परंपरागत् न्यायपालिका का अभिप्राय, जनपद न्यायालय, उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय है।

अधिकरण भी न्यायालय के समान ही होते हैं, परंतु इसमें निश्चित प्रकृति के मुकद्दमे आते हैं। जैसे-प्रशासनिक अधिकरणों में सरकारी निगमों, प्रशासनिक सेवाओं से संबंधित विवादों तथा किराया, औद्योगिक विवाद, श्रम विवाद इत्यादि। अधिकरणों की व्यवस्था मूल संविधान में नहीं थी, अपितु इन्हें 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा गया। संविधान के अनुच्छेद-14 (A), 323 (A) और 323 (B) में अधिकरणों की व्यवस्था है।

अधिकरणों की प्रकृति

अधिकरण में न्यायिक एवं प्रशासनिक दोनों प्रकार के सदस्य होते हैं। जबकि न्यायपालिका में केवल न्यायाधीश होते हैं। अधिकरण प्रशासनिक मामलों के समाधान के लिए विशेष रूप में गठित किए जाते हैं। जबकि न्यायालय वैधानिक एवं संवैधानिक मुद्दों का समाधान करते हैं। केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण सिविल सेवकों के विवादों को हल करने के लिए है। जबकि राष्ट्रीय हरित अधिकरण पर्यावरणीय विवादों को हल करने के लिए गठित किए गए हैं। अधिकरण न्यायिक तथा अर्द्ध-न्यायिक विवादों का समाधान करते हैं और सभी न्यायालय अधिकरणों के समान होते हैं। न्यायालय को वे सभी अधिकार प्राप्त होते हैं, जो अधिकरण को प्राप्त होते हैं, परंतु न्यायालयों को प्राप्त सभी अधिकार अधिकरण को प्राप्त नहीं होते। इनमें तर्कों व साक्ष्यों के आधार पर मध्यस्थ की तरह विवादों का निपटारा किया जाता है तथा इसमें विवाद दो सरकारी पक्षों के मध्य या फिर सरकारी और प्राईवेट पक्षकारों के बीच भी हो सकता है।

प्रशासनिक अधिकरण की संरचना (CAT)

प्रशासनिक अधिकरण (अनुच्छेद-323(A)) एक बहुसदस्यीय निकाय है। इसमें एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष होते हैं, साथ ही उतने अन्य सदस्य हो सकते हैं, जितनी सरकार आवश्यक समझे। अधिकरण में एक न्यायिक तथा एक प्रशासनिक अधिकारी होना अनिवार्य है। प्रशासनिक अधिकारियों के लिए यह शर्त है कि वह दो वर्षों तक सचिव के पद पर रह चुके हों तथा न्यायिक अधिकारी के लिए यह आवश्यक है कि वह उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की योग्यता रखता हो। वर्तमान समय में केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण में 1 अध्यक्ष, 16 उपाध्यक्ष तथा 49 सदस्य हैं। सभी सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष की अधिकतम उम्र 68 वर्ष एवं सदस्यों की 65 वर्ष होती है। अधिकरण के सदस्यों को कदाचार व असमर्थता के आधार पर न्यायिक परीक्षण के उपरांत राष्ट्रपति द्वारा हटाया जाता है और हटाने की प्रक्रिया संसद विधि द्वारा निर्धारित करती है।

अनुच्छेद-323(A) के अंतर्गत् संसद को यह शक्ति प्राप्त है कि ऐसे प्रशासनिक अधिकरणों का निर्माण करे, जिसके द्वारा संघ और राज्यों में नियुक्त लोक सेवकों की भर्ती और सेवा संबंधी मुद्दों को सुलझाया जा सके। इसके अंतर्गत् संसद ने वर्ष-1985 में प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना की। प्रशासनिक अधिकरण **संवैधानिक निकाय** हैं। इसके अंतर्गत् विभिन्न राज्यों में राज्य प्रशासनिक अधिकरण और संघीय स्तर पर केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण का निर्माण किया गया। चंद्र कुमार वाद के पश्चात् इन अधिकरणों के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में भी अपील की जा सकती है। इसके पहले सीधे उच्चतम न्यायालय में अपील का प्रावधान था।

वर्तमान समय में देश में कुल सत्रह (17) प्रशासनिक अधिकरण हैं तथा इसकी प्रधान पीठ दिल्ली में है। निम्नलिखित कर्मचारी केन्द्रीय प्रशासनिक अधिकरण की अधिकारिता के अंतर्गत् नहीं आते हैं -

1. सेना के कर्मचारी।
2. लोक सभा एवं राज्य सभा सचिवालय के सेवक।
3. उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के पदाधिकारी।

अन्य अधिकरण (अनुच्छेद-323(B)

विधायिकाओं को यह अधिकार है कि वे निम्नलिखित मामलों को सुलझाने हेतु अधिकरणों का निर्माण कर सकती हैं -

- करारोपण से संबंधित विवाद।
- विदेशी विनिमय और आयात-निर्यात से संबंधित विवाद।
- औद्योगिक और श्रमिक विवादों का समाधान।
- भूमि-सुधार एवं अधिग्रहण से संबंधित विवाद।

- शहरी संपत्ति की सीलिंग।
- संसद या विधान सभा चुनावों से संबंधित विवादों का समाधान।

संसद के द्वारा करारोपण से संबंधित अधिकरण तथा औद्योगिक विवादों से संबंधित अधिकरण का भी गठन किया गया है, परंतु संसद एवं विधान सभा चुनाव से संबंधित विवादों के समाधान के लिए अधिकरण का निर्माण नहीं किया गया है। इन विवादों का समाधान अभी भी उच्च न्यायालयों के द्वारा किया जाता है। भूमि-सुधार और अधिग्रहण से संबंधित अधिकरण का निर्माण भी नहीं किया गया है।

वाणिज्यिक न्यायालय (Commercial Court)

वर्ष-2015 में उच्च न्यायालय के अपीलीय डीविजन अधिनियम का निर्माण किया गया। इन वाणिज्यिक न्यायालयों के द्वारा वाणिज्यिक विवाद जिसमें व्यापार पार्टनरशिप, बौद्धिक संपदा अधिकार तथा संयुक्त उद्यम से संबंधित वे मामले शामिल होंगे, जिनकी कीमत एक करोड़ रूपये से कम न हो। इन न्यायालयों की स्थापना के द्वारा वाणिज्यिक विवादों को त्वरित रूप में हल किया जाएगा, जिससे देश में व्यापार और निवेश के वातावरण को अनुकूल किया जा सके।

संरचना

वाणिज्यिक न्यायालयों की स्थापना राज्य सरकारों के द्वारा की जाएगी तथा राज्य सरकार ही न्यायालयों एवं न्यायाधीशों की संख्या का निर्धारण करेंगी और ये न्यायालय जिला न्यायालयों की भांति होंगे। जिन राज्यों में उच्च न्यायालयों को सिविल मामलों में आरंभिक सुनवाई का अधिकार है, उनमें उच्च न्यायालय में ही वाणिज्यिक मामलों की सुनवाई के लिए डीविजन बेंच स्थापित किया जाएगा। इन मामलों में अपील का अधिकार भी उच्च न्यायालय में होगा।

त्वरित न्याय

वाणिज्यिक न्यायालयों और उच्च न्यायालय के डीविजन बेंच के द्वारा दिए गए निर्णय 60 दिनों के अंदर उच्च न्यायालय के समक्ष अपील किए जा सकेंगे तथा अपीलीय बेंच के द्वारा इन मामलों का निस्तारण 6 महीने की अवधि के अंदर किया जाएगा। ऐसे वाणिज्यिक विवाद जिनके मूल्य 1 करोड़ रूपये से कम नहीं हैं वे इन न्यायालयों को हस्तांतरित कर दिए जाएंगे। दिल्ली में 6 वाणिज्यिक डीविजन बेंच तथा 4 अपीलीय डीविजन बेंच पहले से स्थापित कर दिए गए हैं। इन न्यायालयों में वकीलों के स्थगन का प्रावधान नहीं है और इसमें सभी प्रकार के जवाब समय पर दाखिल किए जाएंगे।

हरित न्यायाधिकरण (Green Tribunal)

हरित न्यायाधिकरण का उद्देश्य पर्यावरण से जुड़ी सरकारी तथा गैर-सरकारी विकास परियोजनाओं के मामलों का शीघ्र निपटारा करना है। इस हेतु वर्ष-2010 में राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण अधिनियम, 2010 पारित किया गया, जिसके तहत राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण का गठन किया गया। इस न्यायाधिकरण में पर्यावरण से संबंधित वाद किसी भी व्यक्ति, संस्थान व एन. जी. ओ. द्वारा दायर किया जा सकता है।

उद्देश्य

पर्यावरणीय संरक्षण तथा वन के संरक्षण से संबंधित वादों को त्वरित और प्रभावी रूप में हल करने के लिए एक विशेषज्ञ संस्था की स्थापना की गयी। पर्यावरणीय नियमों के उल्लंघन के कारण होने वाले जन और धन के नुकसान के मुआवजे का प्रावधान किया गया है।

संरचना

इसका मुख्य बेंच **नई दिल्ली** में स्थित है, जबकि इसकी क्षेत्रीय शाखाएं पुणे, भोपाल, चेन्नई और कोलकाता में स्थापित हैं। न्यायाधिकरण का अध्यक्ष उच्चतम न्यायालय का अवकाश प्राप्त न्यायाधीश तथा इसके अन्य न्यायिक सदस्य उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश होंगे। अधिनियम में यह उल्लिखित है कि न्यायाधिकरण में न्यायिक सदस्य संख्या 20 तथा विशेषज्ञ सदस्य भी 20 हो सकते हैं। परंतु वर्तमान में इसके 10 सदस्य पर्यावरणीय विशेषज्ञ तथा 10 न्यायिक सदस्य भी हैं। अध्यक्ष का कार्यकाल 70 वर्ष तथा अन्य न्यायिक सदस्यों का कार्यकाल 67 वर्ष होगा। विशेषज्ञ सदस्य विज्ञान से संबंधित विषय में परास्नातक तथा पर्यावरणीय विषयों में 5 वर्षों का अनुभव हो। विशेषज्ञ सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्ष का होगा। अध्यक्ष और सदस्यों को उच्चतम न्यायालय की अनुशंसा के आधार पर ही राष्ट्रपति के द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है तथा इनके कार्यकाल के दौरान इनके वेतन व भत्तों में अलाभकारी कटौती नहीं होगी।

न्याय का तरीका

न्यायाधिकरण के 20 सदस्य इसके मुख्य बेंच और अन्य बेंच में कार्य करते हैं। प्रत्येक बेंच में एक न्यायिक सदस्य तथा एक विशेषज्ञ सदस्य होता है। न्यायाधिकरण की प्रक्रिया **सिविल प्रोसीजर कोड, 1908** (Civil Procedure Code, 1908 (CPC)) के द्वारा निर्धारित नहीं है और न ही यह भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 पर आधारित है। यह प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत पर कार्य करती है तथा यह अपने निर्णय में प्रक्रियात्मक न्याय की बजाय, युक्तियुक्तता तथा प्राकृतिक न्याय का सहारा लेती है। अवैध खानों के उत्खनन के मुद्दे को राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। अधिकरण के द्वारा हिमाचल प्रदेश सरकार को कुल्लू-मनाली मार्ग पर सी. एन. जी. संचालित बसों के संचालन का निर्देश दिया गया है तथा उड़ीसा में लगने वाले ताप विद्युत परियोजना (Thermal Power Project) को लगाने पर आपत्ति व्यक्त की गई।

अपील

न्यायाधिकरण के समक्ष आने वाले मामलों को 6 महीने की अवधि में हल कर लिया जाएगा और उच्चतम न्यायालय के द्वारा निर्णय देने के 90 दिन की अवधि में अपील किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति 1,000 रुपये का शुल्क के आधार पर मामला न्यायाधिकरण के समक्ष ला सकता है। न्यायाधिकरण के द्वारा यह निर्णय दिया गया कि दिल्ली में 10 वर्ष से पुराने वाहनों को सड़क पर चलने से प्रतिबंधित कर दिया जाए। इस निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की गई और उच्चतम न्यायालय ने इस निर्णय को वैधानिक माना।

शक्तियां

न्यायाधिकरण को सिविल न्यायपालिका की शक्तियां प्राप्त हैं। इसके द्वारा पर्यावरणीय मुद्दे और उससे संबंधित नियमों के क्रियान्वयन से जुड़े हुए मुद्दे लाए जाते हैं, **जो निम्नलिखित अधिनियमों से संबंधित हैं** -

- जल संरक्षण प्रदूषण अधिनियम, 1974
- वन्य संरक्षण अधिनियम, 1980
- वायु नियंत्रण और प्रदूषण अधिनियम, 1981
- पर्यावरणीय संरक्षण अधिनियम, 1986
- सार्वजनिक उत्तरदायित्व बीमा अधिनियम, 1991
- जैव विविधता अधिनियम, 2002
- वन्य जीव संरक्षण अधिनियम, 1972 तथा भारतीय वन्य अधिनियम, 1927 से जुड़े हुए मुद्दे अधिकरण के समक्ष नहीं लाए जा सकते।

अधिकरण के द्वारा यह निर्णय दिया गया कि दिल्ली में चलने वाले वाहन जो 15 वर्ष पुराने हैं, उन्हें दिल्ली की सड़कों से हटा दिया जाए। इस निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की गई। उच्चतम न्यायालय ने भी न्यायाधिकरण के निर्णय को बनाए रखा। इसलिए अधिकरण के द्वारा दिए गए निर्णयों से पर्यावरण संरक्षण और आम लोगों की आजीविका और रोजगार के बीच संघर्ष उत्पन्न हो रहा है।

सेना न्यायालय

सेना में अनुशासन बनाए रखने के लिए सैनिकों को सिविल अथवा आपराधिक न्यायालयों के सामने प्रस्तुत नहीं किया जाता, बल्कि इनके लिए अलग सैन्य न्यायालयों का गठन किया गया है। इनके द्वारा किए गए अपराध और अनुशासनहीनता से संबंधित मामले सैन्य न्यायालयों द्वारा सुलझाए जाते हैं। थल सेना अधिनियम, 1950, वायु सेना अधिनियम, 1950 एवं नौसेना अधिनियम, 1957 के अंतर्गत् आने वाले अपराधों पर सुनवाई से उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों को प्रतिबंधित किया गया है, (संविधान के अंतर्गत् अनुच्छेद-136(2) एवं अनुच्छेद-227 के तहत्)। इसी तरह भारतीय दंड संहिता अथवा दंड प्रक्रिया संहिता के प्रावधान भी रक्षा कर्मियों द्वारा किए गए अपराधों पर लागू नहीं होते हैं। उपरोक्त अधिनियमों के अंतर्गत् किए गए अपराधों के लिए सैन्य कर्मियों पर सुनवाई का अधिकार केवल सैन्य न्यायालयों को ही है। यदि सेना में कार्यरत कोई सैन्य कर्मी स्थानीय पुलिस द्वारा हिरासत में ले लिया जाता है, तो उसे पुलिस द्वारा सैन्य प्राधिकारियों को सौंप देना चाहिए, जिससे दोषी सैन्य कर्मी की सुनवाई सैन्य न्यायालय में किया जा सके।

सेना न्यायालय के द्वारा केवल सैनिकों के विरुद्ध मुकद्दमा चलाया जाता है। देश में सैन्य न्यायालय एकमात्र न्यायालय है, जहां सैनिकों द्वारा किए गए अपराधों की सुनवाई होती है और उन्हें सजा भी दी जाती है। सैन्य न्यायालय

द्वारा दी गई सजा के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों में अपील नहीं की जा सकती। सैन्य न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय संवैधानिक उपचार के अधिकार के अंतर्गत् याचिका प्रदान करता है। उच्च न्यायालय यह याचिका अनुच्छेद-226 के अंतर्गत् जारी करता है। **सैन्य विधि के अंतर्गत् चार प्रकार के सैनिक न्यायालय होते हैं** -

1. सामान्य सेना न्यायालय।
2. जिला सेना न्यायालय।
3. संक्षिप्त सामान्य सेना न्यायालय।
4. संक्षिप्त सेना न्यायालय।

1. सामान्य सेना न्यायालय

यह सेना न्यायालयों में सबसे उच्चतम अथवा शिखर न्यायालय है। इसे थल सेनाध्यक्ष के लिखित अनुरोध पर केन्द्र सरकार द्वारा गठित किया जाता है, जिसमें कम से कम 5 सैन्य अधिकारी होते हैं। यह न्यायालय थल सेना अधिनियम, 1950, वायु सेना अधिनियम, 1950 एवं नौसेना अधिनियम, 1957 के अंतर्गत् दोषी किन्हीं सैन्य कर्मियों के दण्डनीय अपराध की सुनवाई कर सकता है। यह सैन्य न्यायालय अपनी ही कमान अर्थात् थल सेना, वायु सेना तथा जल सेना के अधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा किए गए अपराधों की सुनवाई के लिए गठित किए जाते हैं।

2. जिला सेना न्यायालय

यह न्यायालय ऐसे सैन्य अधिकारी के नेतृत्व में गठित किया जाता है, जो सामान्य सेना न्यायालय में सम्मिलित होने की योग्यता रखता है। सैन्य अधिनियमों के अंतर्गत् दण्डनीय अपराध के लिए किसी सेना के अधिकारी अथवा जे. सी. ओ. के विरुद्ध इस न्यायालय में सुनवाई की जा सकती है। यह न्यायालय मृत्युदण्ड, आजीवन कारावास अथवा दो वर्ष से अधिक के कारावास को छोड़कर सैन्य अधिनियम (थल सेना अधिनियम, 1950, वायु सेना अधिनियम, 1950 एवं नौसेना अधिनियम, 1957) के अंतर्गत् अधिकृत कोई भी दण्ड दोषी सैन्य अधिकारी को दे सकता है।

3. संक्षिप्त सामान्य सेना न्यायालय

यह सेना न्यायालय केन्द्र सरकार के निर्देशानुसार अथवा आदेश से गठित किया जाता है, जो केन्द्र सरकार द्वारा अधिकृत सेनाध्यक्ष अथवा अधिकारी के नेतृत्व में कम से कम तीन सैन्य अधिकारियों से मिलकर बनता है। इस न्यायालय की शक्तियां भी सामान्य सेना न्यायालय के समान ही होती हैं और सैन्य अधिनियमों में उल्लिखित कोई भी दण्ड दोषी अधिकारियों को देने में सक्षम है।

4. संक्षिप्त सेना न्यायालय

यह न्यायालय सेना के किसी महत्वपूर्ण विभाग अथवा नियमित सेना की उस टुकड़ी के अधिकारी की अध्यक्षता में गठित किया जाता है, जिस टुकड़ी अथवा विभाग से दोषी सैन्य अधिकारी संबंधित होता है। यह न्यायालय भी तीन सदस्यीय होता है, जिसमें अध्यक्षता करने वाले सैन्य अधिकारी के अतिरिक्त दो अन्य सदस्य अधिकारी स्तर या जे. सी. ओ. अथवा दोनों स्तरों के एक-एक सदस्यों से मिलकर बनता है। यह न्यायालय मृत्युदण्ड, आजीवन कारावास अथवा एक वर्ष से अधिक के कारावास की सजा को छोड़कर सैन्य अधिनियम में उल्लिखित दण्ड दे सकता है।

अर्हताएं

जिन सदस्यों से मिलकर सैन्य न्यायालयों का गठन किया जाता है, उनकी योग्यताओं का वर्णन सैन्य अधिनियमों (थल सेना अधिनियम, 1950, वायु सेना अधिनियम, 1950 एवं नौसेना अधिनियम, 1957) में किया गया है।

न्यायाधीश महाधिवक्ता

सैन्य अधिनियमों के अंतर्गत् प्रावधान है कि प्रत्येक सैन्य न्यायालय में न्यायाधीश महाधिवक्ता के विभाग का एक सदस्य न्यायाधीश अधिवक्ता उपस्थित रहेगा। यदि ऐसा कोई अधिकारी न्यायालय में सुनवाई के दौरान उपस्थित नहीं है, तो न्यायाधीश महाधिवक्ता अथवा उसके अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा अनुमोदित कोई अन्य अधिकारी न्यायालय में सुनवाई के दौरान उपस्थित रहेगा।

भूमिका

न्यायाधीश महाधिवक्ता की भूमिका सलाहकार की होती है।

कार्य

- पीड़ित और आरोपी (अभियुक्त) पक्ष को हर समय न्यायालय की सुनवाई से जुड़ी हुई कानूनी जानकारी पर सलाह देना अथवा किसी विधि के प्रश्न पर दोनों की राय जानना।
- न्यायालय की कार्यवाही में अगर कोई त्रुटि अथवा अनियमितता है, तो न्यायालय को उससे अवगत कराना।
- न्यायालय में सुनवाई (विचारण) के दौरान उठने वाले विधि, व्यवहार अथवा प्रक्रियागत प्रश्न पर न्यायालय द्वारा पूछे जाने पर अपनी राय देना।
- सुनवाई की तारीख तथा स्थान के विषय में दोनों पक्षों के गवाहों को न्यायालय में हाजिर होने के लिए सम्मन (नोटिस) भेजना है।
- सेना न्यायालय के न्यायाधीश के समान ही न्यायाधीश महाधिवक्ता का भी उत्तरदायित्व है कि पीड़ित और दोषी दोनों पक्षों को न्याय मिले।
- न्यायाधीश महाधिवक्ता का कर्त्तव्य है कि वह पूरी तरह से दोनों पक्षों के प्रति निष्पक्षता का व्यवहार करे।

लोक अदालतें

भारत में न्यायपालिका के समक्ष बड़ी संख्या में मामले लंबित हैं तथा न्याय की प्रणाली अत्यधिक औपचारिक एवं न्याय प्राप्त करने में अत्यधिक पैसे का भी व्यय होता है। अत: न्याय को आम लोगों को त्वरित रूप में उपलब्ध कराने के लिए पहली बार गुजरात में वर्ष-1982 में लोक अदालतों की स्थापना की गई। इसके बाद लोक अदालतों की स्थापना **विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987** के संसदीय अधिनियम के द्वारा की गई। इन अदालतों का ध्येय आपसी बातचीत के माध्यम से विवादों का निपटारा करना है। यदि दोनों पक्ष सहमत हों, तो दूसरी अदालतों में चल रहे मुकद्दमे लोक अदालतों में हस्तांतरित कर समझौते का प्रयास किया जाता है और इन अदालतों में कोई शुल्क नहीं लगता तथा समझौते की स्थिति में दोनों पक्षों के शुल्क वापस कर दिए जाते हैं। लोक अदालतों का गठन उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालय और जनपद न्यायालय द्वारा भी किया जाता है।

संरचना

वर्ष-2002 तक ये अदालतें अस्थायी रूप से कार्य करती थीं। वर्ष-2002 में इस अधिनियम में संशोधन करके लोक अदालतों को स्थायी बना दिया गया। इन अदालतों की अध्यक्षता एक न्यायाधीश द्वारा की जाती है तथा इसमें दो अन्य सदस्य होते हैं। जरूरी नहीं है कि ये सदस्य न्यायाधीश ही हों, सामान्यत: एक वकील तथा एक सामाजिक कार्यकर्ता भी इन अदालतों का सदस्य होता है। इसमें व्यक्ति अपने मामलों की पैरवी स्वयं कर सकता है और उसे वकील की आवश्यकता नहीं होती।

कार्य

लोक अदालतों को दीवानी अदालतों की मान्यता प्राप्त है तथा ये उन आपराधिक मामलों को भी देख सकते हैं, जिनकी प्रकृति समझौते योग्य (Compoundable) हैं। ये अदालतें पारंपरिक अदालतों से अलग तरह से काम करती हैं और इसमें सुलह व समझौता को वरीयता दिया जाता है तथा ये अदालतें अधिकतर सिविल मामलों को देखती हैं। भूमि एवं संपत्ति संबंधी विवाद, पारिवारिक विवाद इत्यादि मुकद्दमों को इन अदालतों के तहत लाया जाता है। आपसी सहमति से समझौते होने के कारण इन अदालतों के निर्णयों के खिलाफ अपील नहीं हो सकती।

पारिवारिक अदालत

वर्ष-1984 में संसदीय विधि के द्वारा पारिवारिक अदालतों की स्थापना का प्रावधान किया गया। इस अधिनियम के अनुसार, जिन शहरों की अबादी 10 लाख से ज्यादा होगी, वहां पारिवारिक अदालतों का गठन किया जाएगा। इसके अतिरिक्त अन्य शहरों में भी संसद के द्वारा पारिवारिक अदालतों का गठन किया जा सकता है। राज्यों में राज्य सरकार के द्वारा उच्च न्यायालय की सलाह से पारिवारिक अदालतों की स्थापना की जाएगी। पारिवारिक अदालतों की प्रकृति जनपद अदालतों की भांति होती है। इन अदालतों में एक न्यायाधीश और एक अतिरिक्त न्यायाधीश की नियुक्ति हो सकती है। न्यायाधीश के रूप में नियुक्त होने वाले व्यक्ति को भारतीय राज्य के अंतर्गत् 7 वर्षों का न्यायिक अनुभव होना चाहिए।

पारिवारिक अदालतों में पति-पत्नी के बीच विवाह से संबंधित विवादों को हल किया जाता है। पत्नी को गुजारा भत्ता देने से संबंधित विवाद तथा अल्पवयस्क बच्चों पर हक का निर्धारण न्यायालय के द्वारा किया जाता है। समस्या के समाधान के लिए प्राकृतिक न्याय का सहारा लिया जाता है और विवादों को सुलह तथा सहयोग के द्वारा हल किया जाता

है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपने मामले की पैरवी स्वयं कर सकता है। पारिवारिक अदालतों के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है तथा जिन मामलों में दोनों पक्षों के बीच सहमति हो, उसमें अपील का प्रावधान नहीं है।

.....

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learnig Platform
KHAN SIR